International Journal of Education and Science Research Review
Volume-2, Issue-2 April- 2015
E-ISSN 2348-6457
P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org Email- editor@ijesrr.org

भारतीय हिन्दी लोक साहित्य में संस्कृति और साहित्य का संक्षिप्त मूल्यांकन

Godavari
Research Scholar
Mewar University Rajasthan

Dr.Mamta Singh
Supervisor
Mewar University Rajasthan

सार

लोक–साहित्य 'लोक' और 'साहित्य' दो शब्दों से मिलाकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ लोक का साहित्य है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' की विशेषता के संबंध में लिखा है–"लोक लफ्ज का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों या ग्रामों में फैली हुई समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में रहने वाले परिष्कृत रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अति सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं। परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।" 'लोक' लोक जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपनी प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों और परंपराओं के प्रति आस्थावान है। लोक–साहित्य मूलतः लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है जो संपूर्ण जीवन का नेतृत्व करती है। लोक जीवन की अभिव्यक्ति को वाणी देना ही लोक साहित्य है।

प्रस्तावना

लोकसाहित्य पढ़ने–लिखने में एक शब्द है, पर वह वस्तुतः यह दो गहरे भावों का गठबंधन है। "लोक" और "साहित्य" एक दूसरे के संपूरक, एक दूसरे में संश्लिष्ट जहां लोक होगा, वहां उसकी संस्कृति और साहित्य होगा। विश्व में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहां लोक हो और वहां उसकी संस्कृति न हो। मानव मन के उद्‌गारों व उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों का सजीव चित्रण यदि कहीं मिलता है तो वह लोक साहित्य में ही मिलता है। यदि हम लोकसाहित्य को जीवन का दर्पण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लोक साहित्य के इस महत्व को समझा जा सकता है कि लोककथा को लोक साहित्य का जनक माना जाता है और लोकगीत को काव्य की जननी लोक साहित्य में कल्पना प्रधान साहित्य की अपेक्षा लोकजीवन का यथार्थ सहज ही देखने में मिलता है। लोकसाहित्य हम धरतीवासियों का साहित्य है, क्योंकि हम सदैव ही अपनी मिट्टी, जलवायु तथा सांस्कृतिक संवेदना से जुडे रहते हैं। अतः हमें जो भी उपलब्ध होता है वह गहन अनुभूतियों तथा अभावों के कटु सत्यों पर आधारित होता है, जिसकी छाया में वह पलता और विकसित होता है। इसीलिए लोक साहित्य हमारी सभ्यता का संरक्षक भी है। साहित्य का केन्द्र लोकमंगल है। इसका पूरा ताना– बाना लोकहित के आधार पर खडा है। किसी भी देश अथवा युग का साहित्यकार इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ अनिष्ठ की कामना है,वहाँ साहित्य नहीं हो सकता। वह तो प्रकृति की तरह ही सर्वजनहिताय की भावना से आगे बढता है। संत शिरोमणि तुलसीदास की ये पंक्तियां" कीरत भनित भूरिमल सोई–सुरसरि के सम सब कह हित होई" अमरत्व लिए हुए है। गंगा की तरह ही साहित्य भी सभी का हित सोचता है। वह गंगा की तरह पवित्र और प्रवाहमय है, वह धरती को जीवन देता है...श्रृंगांर देता है और सार्थकता भी। प्रकृति साहित्य की आत्मा है। वह अपनी मिट्टी से, अपनी जमीन से जुडा रहना भी साहित्य की अनिवार्यता समझता है। मिट्टी में सारे रचनाकर्म का" अमृतवास' रहता है। रचनाकार उसे नए–नए रुप देकर रुपायित करता है। गुरु–शिष्य परम्परा हमें प्रकृति के उपादानों के नजदीक ले आती है। जहाँ कबीर का कथन प्रासंगिक है–'गुरु कुम्हार सिख कुंभ गढी–गढी काठै खोट अन्तर हाथ सहार दे बाहर वाहे खोट" संस्कारों से दीक्षित व्यक्ति सभी प्रकार के दोषों–खोटों से मुक्त रहता है। इसमें लोकहित की भावना समाहित है। मलूकदास भी इन्सानियत की परिभाषा अपने शब्दों में यूं देते हैं–"मलुका सोई पीर है,जो जाने पर पीर–जो पर पीर न जानई,सो काफिर बेपीर" दूसरों की पीड़ा समझने वाला इन्सान पशु–पक्षी का भी अहित नहीं सोच सकता। उसे वनस्पति के प्रति मैत्री का वह विस्तार साहित्य ही तो है।

जिज्ञासु व्यक्ति कुछ न कुछ सोचने की चेष्टा करता है। इस प्रकृति के सहचर्य से उसने बहुत कुछ सीखा है। उस काल के वेदज्ञ ब्राहमण चौदह विद्याओं का अध्ययन करना अपना अभीष्ठ मानते थे। सोलह कलाओं और चौदह विधाओं के अलावा वे संगीत, सामुद्रिक, ज्योतिषी, वेदाध्ययन काव्य, भाषाशास्त्र, पशुभाषा ज्ञान, तैरना, धातु विज्ञान, रसायन, रत्न परख, चातुर्य एवं अंग विज्ञान आदि अनेक विषयों में गहरी रूचियाँ रखते थे। इस बात के साक्षी है पुरातन भारतीय– ग्रंथ जो समय की सीमा को पार कर चुके हैं। मनुष्य के संचित ज्ञान और अनुभव के पहले पुस्तकाकार स्वरुप की याद आते ही दृष्टि स्वमेव ही वेदों की ओर चली जाती है। वेद वे वाडमय जो ज्ञान कोष के रुप में सदियों से हमारा साथ देते आए हैं। ऋग्वेद को सृष्टि विज्ञान की प्रथम पुस्तक होने का

गौरव प्राप्त है। जल, अग्नि, वायु, मृदा, चारों वेदों की रचना के पीछे ये ही तत्व प्रमुख रुप से काम करते हैं। ऋग्वेदों में अग्नि के रुपान्तरण कार्य और गुणों की व्याख्या है, तो यजुर्वेद में विविध रुपों और गुण धर्मों की। सामवेद का प्रधान तत्व जल है, तो अथर्ववेद पृथ्वी (मृदा) पर केन्द्रित है। पांचवा तत्व आकाश तत्व है। सृष्टि की रचना करने वाले उस महान कुंभकार ने इन्हीं पांचों तत्वों के कच्चे माल को मिलाकर एक ऐसी ही रचना की, जो बेजोड है।

हमारी धरती के अस्तित्व का जो आधार है जिसे भारतीय मेधा ने भूमि माँ कहकर अभिनन्दन के स्वर अर्पित किए–"माताभुमिः पुत्रोव्है पृथिव्या"। अर्चन–अभिनन्दन के इन् स्वरों में बहुत ही सार्थक भावभीना स्वर है। यह वैदिक पृथ्वी समूह मां पृथ्वी की स्तुति का पावन सूत्र, प्रकृति प्रेम की अद्भुत मिसाल, पर्यावरण विमर्श का महत्वपूर्ण घोषणा–पत्र, पर्यावरण प्रतिष्ठा का सारस्वत अनुष्ठान और उसके संरक्षण के लिए समर्पित शिव संकल्प, आसुरी वृत्तियों के अस्वीकार तथा दैवी वृत्तियों के स्वीकार का घोषणा–पत्र है। यह पृथ्वी की समस्त निधियों के विवेक सम्मत प्रयोग का आग्रही है। यह प्रेम के लिए नहीं, श्रेय के लिए समर्पित शोध का पक्षधर है। यह सामाजिकता, मंगलमयता में लीन हो जाने का आव्हान है। आज के पर्यावरण संकट की समस्त युक्तियों का एक सूत्रीय समाधान है। बीस कांडों, इक्तीस सूत्रों और पांच हजार नौ सौ इकहत्तर मंत्रों का महाकोष है। व्यक्ति सुखी रहे, दीर्घायु प्राप्ति करे। सदनीति पर चले, पशु–पक्षियों, वनस्पतियों एवं जीव जगत के साथ साहचर्य रहे, इन्हीं कामनाओं से ओत–प्रोत यह अद्भुत ग्रंथ है।

लोक चेतना तो संस्कृति और साहित्य की परिचालक शक्ति मानी जाती है। किन्तु वर्तमान मशीनी और कम्प्युटरी समाज से लोक चेतना शून्य होती जा रही है। आज जरुरी है कि साहित्य का मूल्यांकन लोकजीवन, लोक संस्कृति की दृष्टि से किया जाना चाहिए। जो लोकसाहित्य लोकजीवन से जुडा होगा वही जीवन्त होगा। माना भूमिः प्रयोग है पृथीव्याः अथर्ववेद कि ऋचा का महाप्राण है। लोकजीवन इस ऋचा के आशय का प्रतिनिधित्व युगों से करता आ रहा है। यही लोक साहित्य की आधार शिला है। लोकसाहित्य परम्परा पर आधारित होता है। अतः अपनी प्रकृति मे विकासशील है। इसमें नित्यप्रति परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। इसका सृजन युग पीड़ा एवं सामाजिक दवाब को भी निरन्तर महसूस करता रहता है। सांस्कृतिक परिस्थितियों का निर्वहन ही सभ्यता कहलाती है। कुछ विद्वान सभ्यता और संस्कृति को एक ही मानते हैं और उसके विचार में सभ्यता और संस्कृति का विकास समान रुप से होता है। काफी गहराई से चिंतन करें तो सभ्यता का ज्यों–ज्यों विकास होता है, त्यों–त्यों संस्कृति का ह्रास होता है। खान–पान, पहनावा सब बदलता जाता है और उसका प्रत्येक पर प्रभाव पड़ता है।

लोकसाहित्य में लोककथा–लोकनाटक तथा लोकगीतों के रखा जा सकता है। जिसमें जनपदीय भाषाओं का रसपूर्ण–कोमल भावनाओं से युक्त साहित्य होता है। भारतीय लोक साहित्य के मर्मज्ञ आर0सी0 टेम्पुल के मतानुसार लोक साहित्य कि साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचना करना उसी सीमा तक करना उचित होगा, जिस सीमा तक उसमें निहित सुन्दरता और आकर्षण को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। यदि लोक साहित्य की वैज्ञानिक विवेचना की जाती है तो मूल विषय नीरस और बेजान हो जाएगा। लोक के हर पहलू में संस्कृति के दिव्य दर्शन होते हैं। जरुरत है तीक्ष्ण दृष्टि और सरल सोच की। लोक साहित्य के उद्भट विद्वान देवेन्द्र सत्यार्थी ने साहित्य के अटूट भंडार को स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हुए कहा था–"मैं तो जिस जनपद में गया, झोलियां भरकर मोती लाया। परलोक की धारणाएँ भी इन्हीं से जुडी हैं। सभी कर्मकाण्ड, पूजा–अनुष्ठान तथा उन्नत सांस्कृतिक समाज में मनुष्य के आचरण का निर्धारण इसी लोक में होता है। लोक हमारी सामाजिकता की गंगोत्री है और सभ्यता का प्रवेश द्वार भी। भारतीय जनमानस को श्रीमद भगवद्गीता ने जितना प्रभावित किया उतना शायद किसी अन्य पुस्तक ने नहीं किया। वैष्णवी तंत्र ने गीता की जो व्याख्या की है, उसमें प्रतीक के रूप में पशु जीवन का महत्व प्रतिपादित होता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः पार्थो वत्स

सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत!

अर्थात उपनिषद गाय है, कृष्ण उनको दुहने वाले हैं, अर्जुन बछडा है और गीता दूध है। गीता में प्रकृति को ईश्वर की माया के रूप में दर्शाया है। गीता के कुछ श्लोकों को (अर्थ) रेखांकित किया जा सकता है जो तेज सूर्य और चन्द्रमा में है, उसे मेरा ही तेज मानों मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सभी भूत–प्राणियों के धारण करता हूँ। चन्द्रमा बनकर औषधियों का पोषण करता हूँ। जठ–राग्नि बनकर प्राणियों की देह मे प्रविष्ठ हूँ। प्राणवायु–अपानवायु से संयुक्त होकर चारों प्रकार से भोजन किए हुए प्राणियों के अन्न को पचाता हूँ। संपूर्ण भूतों (प्राणियों) के हृदय करता हूँ।

श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति को अष्टकोणी बताया है। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के साथ–साथ मन–बुद्धि एवं अहंकार की गणना की गई है। अपनी बाल–लीलाओं के माध्यम से उन्होंने जो दिव्य संदेश दिया उसका व्यापक प्रभाव लोकजीवन तथा लोकपरम्पराओं पर पड़ा। उस दिव्य संदेश के पीछे तात्पर्य यह था की वनस्पति, नदियां, पहाड, पशु–पक्षी, गौवें, जलचर और

मनुष्य सभी इस प्रकृति के अंगीभूत स्वरुप हैं और सबका रक्षण, पोषण और विकास जरुरी है। पर्व और त्योहारों के इतिहास में हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास सृष्टि वस्तुतः सारे त्योहार ऐसे हैं जो प्रकृति की गोद में और प्रकृति के संरक्षण में मनाए जाते हैं जैसे गोवर्धन पूजा, आवंला पूजन, गंगा सप्तमी, माह कार्तिक में तुलसी पूजन आदि। ये सभी पर्व हमें अपनी प्राकृतिकता से सह–संबंधों की परम्पराओं की याद दिलाते हैं। ऐसे पर्व जो प्रकृति के विभिन्न घटकों को पूजने के दिन के रुप में मनाएं जाते है, उसी पर्व के अवसर पर सम्पन्न क्रिया–कलाप और समारोह प्रकृति– प्रेम एवं प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता का नया वातावरण हमें प्रदान कर पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। प्रकृति घटकों के सहसम्बन्ध हमें नई उमंग और प्रकृति प्रेम के नए उत्साह का अनुभव कराता है। भौतिक, सांस्कृतिक एवं लोभ मानसपटल पर नहीं होंगे तो स्वार्थमय भौतिक संस्कृति जैसे प्रदूषण प्रकट नहीं होंगे और पर्यावरण शुद्ध बना रहेगा।

विभिन्न तथ्यों एवं लोकजीवन की शैली के आधार पर निष्कर्ष में कह सकते हैं कि वृक्ष हमारी संस्कृति के विभिन्न अंग रहे हैं। भारत कृषि प्रधान देश है। अतः मृदा का संरक्षण आवश्यक है। प्राकृतिक अवस्था में मैदानी एवं पहाड़ी स्थानों पर लगे वृक्षों की जड़ें जमीन को पकड़े रहती है, जिससे पानी का प्रवाह एवं हवा संतुलित रहती है। वृक्षों के अभाव में हवा एवं पानी पर नियंत्रण नहीं रहने से भूमि के रेगिस्थान में परिवर्तन होने की प्रबल संभावनाएं बनती जा रही है। वनों की कटाई न करने के प्रति जन चेतना फैलाने के उद्देश्य से आंदलनों को शुरु किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

मनुष्य की प्रदूषित मानसिकता प्रकृति को किसी न किसी रुप में प्रदुषित करती है। अस्तु प्रकृति के प्रदूषण को रोकने के लिए संस्कृति की आत्मा, जिसमें प्रकृति की गूँज है, से अनुप्राणित होकर शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। अतः शिक्षण संस्थाओं में अध्ययनरत बालक–बालिकाओं को परम्परागत भारतीय शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। पूर्व की पीढ़ियों ने अपने समय में प्रकृति का पूर्ण विकास कर उनको भौतिक संपत्ति के रुप में बदलकर अगली पीढ़ियों को प्रदान किया जाना है और यह माना है कि आने वाली पीढी उन पूर्वजों का उपकार मानेगी, लेकिन वर्तमान पीढी की तो भावी मानव के लिए जटिल समस्याएं और प्रकृति के विध्वंस का आधार छोड़ कर जाने की संभावनाएं बन रही है। आज रेगिस्थान बढ रहे हैं। जीव–जंतुओं की बहुत सी प्रजातियां लुप्त हो रही है। प्रकृति के वर्तमान दोहन के भविष्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही अपनी योजनाओं का निर्माण करना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास (अष्टम भाग) हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थानः भारतेन्दु काल संपादक– डॉ0 विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ 268 प्रकाशन, नागिरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी,
2. रस्साकशी–प्रो0 वीर भारत तलवार, पृष्ठ 85 सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण–2002
3. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग) संपादक– डॉ0 विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ 269 प्रकाशन, नागिरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
4. भाषाओं का परिवर्तन 'निबंध'– हिन्दी प्रदीप जून 1885 ई0 हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत पृष्ठ 29–30 बालकृष्ण भट्ट संपादक–सत्य प्रकाश मिश्र
5. रस्साकशी–प्रो0 वीर भारत तलवार, पृष्ठ 172 सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण–2002
6. हिन्दी प्रदीप, मार्च 1909 ई0
7. हिन्दी प्रदीप, जून 1879 ई0 पृष्ठ 1–2
8. हिन्दी प्रदीप, नवम्बर 1882 ई0, पृष्ठ 5–7
9. रस्साकशी–प्रो0 वीर भारत तलवार, पृष्ठ–155
10. हिन्दी प्रदीप, जनवरी 1885 ई0 पृष्ठ–7
11. कविवचन सुधा – मई 1879 ई0 में जारी एक विज्ञप्ति द्वारा।
12. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग–3, पृष्ठ – 936, 937
13. हिन्दी प्रदीप, अगस्त 1894 ई0 'कार्तिक स्नान' निबंध
14. बालकृष्ण भट्ट की जीवनी–महादेव भट्ट पेज–10
15. हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1880, पृष्ठ–9।